श्रावण कृष्णा १४, मंगलवार, दिनांक : २८-८-१९६२
काव्य - ६ से ९, प्रवचन नं.-०२

काव्य ६

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा-
नद्य श्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः,
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय॥

देने-लेने का काम कुछ, आज कल परसों करके।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा दे करके॥
पर हे अच्युत जिनपति! तुम यों, पल भर भी नहीं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो॥

अन्वयार्थ — (अच्युत) हे उदारता आदि गुणों से सहित जिनेन्द्रदेव! (विवस्वान्) सूर्य तो (न दाता न हर्ता) न कुछ देता है, और न कुछ अपहरण करता है, सिर्फ (अद्य श्वः) आज... कल... (इति) इस तरह करके (दर्शिताशः) आशा [दूसरे पक्ष में 'दिशा'] दिखाता हुआ (अशक्तः सन्) असमर्थ होकर (एवम्) ऐसे ही — बिना लिये-दिये ही (सव्याजम्) कपटसहित (दिवसम्) दिन को (गमयति) बिता देता है किन्तु हे प्रभु! आप (नताय) नम्र मनुष्य के लिए (क्षणेन) क्षणभर में (अभिमतम्) इच्छित वस्तु (दत्से) दे देते हैं।

भावार्थ — लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़कर सिर झुकाकर 'नमो नारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं, पर वह 'आज दूँगा, कल दूँगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ दिन बिता देता है; किसी को कुछ देता-लेता नहीं है क्योंकि वह असमर्थ जो ठहरा, पर आप नम्र मनुष्य को उसकी इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं; इस तरह आप सूर्य से भी बढ़कर हैं।

काव्य - 6 पर प्रवचन

यह 'विषापहार स्तोत्र' ऋषभदेव भगवान की स्तुति है। भगवान की स्तुति में मन्दिर में थे। उनके समक्ष यह स्तुति कही गयी है। धनंजय महाकवि के पुत्र सर्प के कारण बेहोश हुआ। स्वयं अपने ध्यान की धारा में भक्ति, वह आत्मशक्ति की भक्ति करते थे। बाहर से भगवान की भक्ति चलती थी। वास्तव में तो व्यवहारभक्ति के पीछे निश्चय भक्ति परिणमनरूप हो, उसे भगवान की व्यवहारभक्ति कहा जाता है। समझ में आया? शक्ति की भक्ति। सवेरे शक्ति चलती है न? ऐसा आत्मद्रव्य, उसकी दैवी शक्तियाँ, उनकी भक्ति का श्रद्धा-ज्ञान का परिणमन चले, उसे व्यवहारभक्ति में विकल्प वीतराग के बहुमान का उठे, उसमें शुद्धि भी बढ़े और पुण्य भी लोकोत्तर अलौकिक पुण्य बँधे, ऐसी भक्ति सम्यग्दृष्टि को होती है। समझ में आया? ऐसी भक्ति सम्यग्दृष्टि करता है।

यहाँ पाँच गाथा तक बात आ गयी। हे प्रभु! आप तो मूर्खों के वैद्य हैं। ऐसा कहा न बाल-बाल। बाल कहा। प्रभु! आप तो बाल जीवों के वैद्य हैं न? आपने तो उनकी चिकित्सा बराबर जानी है और उसका उपाय भी आपने बराबर बताया है। वह सर्वज्ञ-आपके अतिरिक्त दूसरा बाल की चिकित्सा देखकर उसका उपाय कहे, ऐसा दूसरा देव हमें दिखाई नहीं देता। समझ में आया? ऐसा करके स्वयं धनंजय, भगवान की स्तुति में रेलमछेल-तल्लीन हो जाते हैं।

देखो! छठी गाथा।

दाता न हर्ता दिवसं विवस्वा-
नद्य श्व इत्यच्युत! दर्शिताशः।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः,
क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय॥

इसका हिन्दी।

देने-लेने का काम कुछ, आज कल परसों करके।
दिन व्यतीत करता अशक्त रवि, व्यर्थ दिलासा दे करके॥

पर हे अच्युत जिनपति! तुम यों, पल भर भी नहीं खोते हो।
शरणागत नत भक्तजनों को, त्वरित इष्ट फल देते हो॥

क्या कहते हैं? देखो! यह गाथा तो अपने आ गयी है प्रवचनसार में ८०वीं। जिसने अरिहन्त के द्रव्य, गुण और पर्याय जाने हैं, लक्ष्य में लिये हैं, अन्तर में उसे रुचिगत हुए। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदशा एक समय में.... कहते हैं न समन्तभद्राचार्य? हे प्रभु! इस जगत में एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में एक समय और तीन भाग द्रव्य के। उत्पाद-व्यय और ध्रुव। एक समय के तीन सत्—तीन सत्। समय एक, तीन सत्। प्रभु! आपने देखे। हमने निर्णय किया कि आप ही सर्वज्ञ हो। आपके अतिरिक्त कोई सर्वज्ञ नहीं है। ऐसा जिसने सर्वज्ञपद का बराबर पर्याय सर्वज्ञ की ऐसी होती है, मोक्षतत्त्व ऐसा होता है, अरिहन्त और सिद्ध की पर्याय परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरपूर (अवस्था ऐसी होती है), ऐसी जिसने द्रव्य, गुण और पर्याय से श्रद्धा की है, विश्वास किया है, वह आत्मा के अन्दर मिलान कर उसे सम्यग्दर्शनरूप से परिणमाता है। समझ में आया? केवलज्ञान की श्रद्धा में ही बड़ा विवाद। विवाद अनन्त काल से। ओहो! पूर्ण प्रभु! आपकी मैंने भक्ति अनन्त काल में की (नहीं)। जिनपति रूप से देव अनन्त काल में स्वीकार नहीं किया। स्वीकार किया कब कहलाये? सर्वज्ञ परमात्मा की जो पर्याय एक द्रव्य की परिपूर्ण, तीन लोक-तीन काल को हस्तामलक की भाँति जानते हैं। ऐसे ज्ञान की पर्याय जिस गुण और द्रव्य में से आयी, परिपूर्ण हुई, उसके भानसहित भगवान की भक्ति, उसे कहते हैं, हे नाथ! हमने जिनपति रूप से आपको धारण नहीं किया। हम आपके दास अनन्त काल में नहीं हुए। सर्वज्ञपद की पर्याय, उसके दास हुए नहीं। प्रभु! अब हम दास होना चाहते हैं। सेठी!

तो कहते हैं, **'अच्युत' हे उदारता आदि गुणों से सहित....** देखो! यह सर्वज्ञ भगवान की स्तुति और सर्वज्ञ भगवान ऐसा आत्मा। निश्चयस्तुति अन्दर के परिणमन की; व्यवहारस्तुति भगवान के सन्मुख के विकल्प की। एक समय में दोनों धारा बहती है। उसे वास्तविक रूप से व्यवहारभक्ति कहा जाता है। **हे उदारता आदि गुणों से सहित.... 'अच्युत'** आपके गुण च्युत नहीं होते। ऐसे सहित **जिनेन्द्रदेव! सूर्य तो.... 'न**

दाता न हर्ता' देखो! क्या लिया है? यह सूर्य प्रकाश का पिण्ड तो है, सूर्य प्रकाश का पिण्ड तो है, परन्तु **न कुछ देता है, और न कुछ अपहरण करता है,....** किसी को कुछ देता नहीं, किसी का कुछ हरता नहीं।

सिर्फ आज... कल... इस तरह करके आशा दिखाता हुआ.... अथवा सूर्य का प्रकाश तो आशा और दिशा दिखलाता है। देता (या) लेता (नहीं)। दिशा दिखलाये कि देख यह दिशा पूर्व की, यह दिशा पश्चिम की, यह दिशा.... समझ में आया? हे प्रभु! **आज... कल... इस तरह करके आशा दिखाता हुआ असमर्थ होकर....** यह सूर्यप्रकाश आत्मा के प्रकाश को देने में समर्थ नहीं है। इस चैतन्यप्रकाश की प्राप्ति में वह समर्थ नहीं है। दिशा दिखलाकर सायंकाल अस्त हो जाता है। दिशाओं को दिखलाकर प्रकाश का पुंज शाम को अस्त हो जाता है।

ऐसे ही—बिना लिये-दिये ही कपटसहित.... अथवा इस बहाने **दिन को बिता देता है....** पूरा दिन चला जाता है। **किन्तु हे प्रभु!** हे सर्वज्ञ प्रभु! त्रिलोकनाथ वीतराग! **आप नम्र मनुष्य के लिए....** विनयवान के लिये। आपका जिसने विनय किया, भक्ति की, पूजा की, बहुमान किया, सत्कार किया। यह सर्वज्ञपद ऐसा है, ऐसा जिसने बहुमानरूप से, विनयरूप से, नम्रतारूप से **नम्र मनुष्य के लिए क्षणभर में इच्छित वस्तु दे देते हैं।** क्षणभर में केवलज्ञान की प्राप्ति कराता है। सेठी! भगवान देते होंगे न?

सूर्य का प्रकाश कहाँ प्रभु! और तेरा चैतन्यप्रकाश कहाँ! तेरे लक्ष्य से जिसे आत्मा का भान हुआ, तेरा स्वरूप ऐसा परिपूर्ण है, ऐसा ही मैं, ऐसा जिसे चैतन्य का भान हुआ, वह क्षणमात्र में आत्मा की दशा को प्राप्त कराता है। आत्मा की दशा की दिशा को प्राप्त कराता है। सूर्य तो बाहर की दिशा को दिखलाकर शाम को चला जाता है। परन्तु तुम तो हे भगवान! अपनी निर्मलदशा प्रगटाकर, बतलाकर यह वस्तु चैतन्यप्रभु, उसमें तू जा, तुझे उसमें से चाहिए वह सब मिल जायेगा। ऐसा भगवान कहनेवाले हैं। और वे भगवान दाता हैं। और वे हर्ता हैं। विकार और अल्पज्ञ का नाश करनेवाले और सर्वज्ञ तथा पूर्ण आनन्द प्राप्त करानेवाले वे भगवान निमित्तरूप से कहने में आते हैं।

अन्तर में देखें तो यह महा ऐसा सूर्य और मात्र दिशा दिखलावे, परन्तु आत्मा की

दशा प्राप्त करावे (नहीं)। हे महा सामान्य चैतन्यप्रभु! महा सामान्य चैतन्य ध्रुवधाम प्रभु आत्मा! यह तेरी जिसने नजर की और दृष्टिपथ में तू चैतन्य आया, उसकी पर्याय में निर्मलदशा हुई और उसकी दशा बदलकर दिशा पूरी बदल जाती है। समझ में आया? भगवान चैतन्य परमात्मस्वभाव! वह सूर्य प्रकाशपुंज। यह प्रकाशपुंज तो कहते हैं कुछ नहीं। यह प्रकाशपुंज उसके अन्तर नमो नमो नमः। 'नमः समयसाराय'—ऐसे चैतन्यप्रभु में जिसने स्वयं नमन किया, नम्रता की, विनय किया, आदर किया, उसकी पर्याय में शान्ति की प्राप्ति सम्यग्दर्शन की प्राप्ति उस आत्मा के भान से प्राप्त होती है। सूर्य से (प्राप्त) नहीं होती। तू चैतन्यसूर्य ही अलग जाति का है। भगवान को कहते हैं, तू चैतन्यसूर्य अलग जाति का, अपने आत्मा को कहते हैं, तेरे चैतन्यस्वभाव का प्रकाश तो अलग जाति का। तुझसे प्राप्ति हुए बिना रहे नहीं। केवलज्ञान अल्प काल में ले, ऐसा प्रभु तू है। तो दूसरे पुण्य आदि की सामग्री की, अभ्युदय की प्राप्ति हो, उसकी तो विशेषता है नहीं। वह तो साधारण साथ में मिल जाती है।

भावार्थ :- ज्ञानी की इच्छित वस्तु तो केवलज्ञान है। समझ में आया? है न? **इच्छित वस्तु दे देते हैं।** इच्छित ज्ञानी की भावना तो शुद्ध उपयोग की और पूर्णानन्द की प्राप्ति की इच्छा है। उसे सूर्य नहीं दे सकता। परन्तु चैतन्यसूर्य को भगवान त्रिलोकनाथ दे सकते हैं। क्योंकि वे देव हैं। 'ददाति इति देवः' आता है? अष्टपाहुड़ में आता है। हे भगवान! आप तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही देते हो। सेठी! प्रभु! आप परमात्मदशा निर्मलानन्द अनन्त काल में जो दशा प्रगट नहीं हुई, ऐसी आपने प्रगटायी। और उसे प्रगटाकर सूर्य की किरणें ऐसे डाली। सूर्य तो कहीं रहा परन्तु उसकी किरणें आवे तो यहाँ कमल खिल जाते हैं। किरण आवे तो कमल खिल जाते हैं।

उसी प्रकार भगवान पूर्णानन्द प्रभु आप, जहाँ भी आपकी वाणी की किरणें आयीं। उसे किरण कहते हैं न? समझ में आया? उन किरणों ने हमें निहाल कर दिया। हमारा आत्मा खिल गया। भगवान आत्मा की किरणें जो तुमने निकाली, (उनसे) हमारा आत्मा ज्ञान, दर्शन और शान्ति से खिल निकला। इसी प्रकार आत्मा स्वरूप में भक्ति से लो, ध्रुवधाम पूरा तो पर्याय में आता नहीं परन्तु उसकी शक्ति की भक्ति की

एकाग्रता करने से उसकी पर्याय में किरणें निर्मलदशा की प्रगट होती हैं, उसका नाम वास्तविक भक्ति और उसका नाम भगवान की भक्ति व्यवहार से कहने में आता है।

लोग सूर्योदय होते ही हाथ जोड़कर सिर झुकाकर 'नमो नारायण'.... करते हैं या नहीं? सवेरे नहीं करते?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसा? काठी को सूर्य है न। सूर्य देवो। सूर्य देवो है वहाँ चोटीला के पास। गये हैं न। हम वहाँ रहे हैं न! सब देखा है। सूर्य का मन्दिर है। काठी लोग सूर्य को बहुत मानते हैं। इसलिए सवेरे वहाँ उतरे थे न वहाँ गाँव में। नानालालभाई के यहाँ। वहाँ सब काठी लोग आओ नमो नारायण.... नमो नारायण.... नारायण.... ऐसा किया करते हैं अन्दर में परस्पर जाये तो। नारायण.... नारायण.... नारायण.... अरे! नर का नारायण हो, वह आत्मा है। और सर्वज्ञ भगवान स्वयं नर के नारायण हुए, वे ही नारायण हैं।

यह सूर्य को कहते हैं कि **'नमो नारायण' कहते हुए सूर्य को नमस्कार करते हैं....** वास्तव में तो सूर्य को नमस्कार की तो ऐसी प्रथा थी (कि) चक्रवर्ती जब.... भगवान की अन्दर प्रतिमा है सूर्य में। भगवान की मूर्ति है। त्रिलोकनाथ परमात्मा की रत्न की शाश्वत् प्रतिमा है, उसे चक्रवर्ती की नजर में बहुत क्षयोपशम और उघाड़ (होता है)। उसके कारण वहाँ वह मूर्ति देखे, उसके महल में। उसे सवेरे पहले नमस्कार करते थे। समझ में आया? यह उसका सूर्य का नमस्कार अकेला रह गया। यह उसके बदले अकेले देव-गुरु और शास्त्र का व्यवहारनमस्कार रह गया। समझ में आया? परन्तु चैतन्य भगवान सूर्य नारायण वह पूर्णानन्द प्रभु अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की किरण का भरचक भरा समुद्र, यह उसे जो नमे, उसे शान्ति की प्राप्ति और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहे। सूर्य तुम्हारा दिये बिना शाम को अस्त हो जाता है, कहते हैं। दिशा दिखलाकर चला जाता है। परन्तु तू दिशा पलटाकर दशा बनाकर तू हमें निमित्तरूप होता है।

और उससे इच्छित वरदान माँगते हैं,.... हे भगवान! आज सुखी करना, आज

दिन में। ऐसा कहते हैं न? **पर वह 'आज दूँगा, कल दूँगा' इस तरह आशा दिखाता हुआ....** अर्थात् आकर चला जाता है.... आकर चला जाता है.... आकर चला जाता है.... इस प्रकार आज दूँगा अर्थात्। **इस तरह आशा दिखाता हुआ....** दिशा दिखाता हुआ **दिन बिता देता है; किसी को कुछ देता-लेता नहीं है क्योंकि वह असमर्थ जो ठहरा,....** इसलिए वह चैतन्य को कुछ लाभ देने के लिये तो अशक्तिवान ठहरा। **पर आप नम्र मनुष्य को....** विनयवान को.... विनय.... विनय.... विनय.... विनय.... विनय.... वि-विशेष नम्रता। राग का बहुमान टला, निमित्त का बहुमान टला और स्वभाव का बहुमान हुआ, उसकी नम्रता की दशा में आप तो शान्ति में **इच्छित वस्तु क्षणभर में दे देते हैं;....** उसकी जैसी भावना, उसके प्रमाण में उसकी पर्याय में शान्ति की निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान की शान्ति की प्राप्ति होती है।

इस तरह आप सूर्य से भी बहुत बढ़कर हैं। सूर्य से भी आप **बहुत बढ़कर हैं।** उससे भी बढ़े-चढ़े आप हैं। परन्तु यह तो एक उपमा है। उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया?

काव्य ७

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूप
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥

भक्तिभाव से सुमुख आपके, रहने वाले सुख पाते।
और विमुखजन दुःख पाते हैं, राग-द्वेष नहिं तुम लाते॥
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एक-सी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख-विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों॥

अन्वयार्थ — (त्वयि सुमुखः) आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष (भक्त्या) भक्ति से (सुखानि) सुखों को (उपैति) प्राप्त होता है (च) और (विमुखः) प्रतिकूल

चलनेवाला पुरुष (स्वभावात्) स्वभाव से ही (दुःखम् 'उपैति') दुःख पाता है; किन्तु (त्वम्) आप (तयोः) उन दोनों के आगे (आदर्श इव) दर्पण की तरह (सदा) हमेशा (अवदातद्युतिः) उज्ज्वल कान्तियुक्त तथा (एकरूपः) एक सदृश (अवभासि) शोभायमान रहते हैं।

भावार्थ — जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करनेवाला पुरुष दर्पण में अपना चेहरा देखकर स्वयं सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष अपना चेहरा न देख सकने से स्वयं दुःखी होता है; उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही हैं, पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी और दुःखी होते हैं।

इसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है, आपकी भक्ति करता है, वह शुभकर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभकर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है और जो आपके विषय में विमुख रहता है अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है, वह अशुभकर्मों का बन्ध होने से दुःख पाता है। उनके सुख-दुःख में आप कारण नहीं हैं; आप तो हमेशा दोनों के लिए राग-द्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं।

काव्य - ७ पर प्रवचन

सातवीं।

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि,
त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूप
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि॥

भक्तिभाव से सुमुख आपके, रहने वाले सुख पाते।
और विमुखजन दुःख पाते हैं, राग-द्वेष नहिं तुम लाते॥
अमल सुदुतिमय चारु आरसी, सदा एक-सी रहती ज्यों।
उसमें सुमुख-विमुख दोनों ही, देखें छाया ज्यों की त्यों॥

देखो! हृदय के उद्‌गार! कवि भगवान के प्रति अमृत की डकार निकालकर हृदय के उद्‌गार निकालते (व्यक्त करते) हैं। भो! नाथ! है न? **'त्वयि सुमुखः'** हे भगवान! **आपके अनुकूल चलनेवाला पुरुष....** सम्यग्दृष्टि। भगवान के अनुकूल वर्तनेवाला तो सम्यग्दृष्टि होता है। है न? अन्दर यह है। **'सुमुखः'** अर्थात् सम्यग्दृष्टि। ....प्रभु! **आपके अनुकूल चलनेवाला....** आपकी आज्ञा प्रमाण चलनेवाले। आपकी आज्ञा— स्वरूप का आराधन करो, यह आपकी आज्ञा है। समझ में आया? स्वरूप परमात्म तेरा तेरे पास है। उसका तू सेवन कर, उसका तू आराधन कर। ऐसी भक्ति करनेवाला जो सम्यग्दृष्टि वह **भक्ति से सुखों को प्राप्त होता है....** भगवान! आपकी भक्ति से, अनुकूलता से सम्यग्दृष्टि शान्ति को पाता है और तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के बाह्य अभ्युदय को भी इन्द्रिय के सुख की भी उसे प्राप्ति होती है। अज्ञानी को नहीं आत्मा का सुख, नहीं बाहर की लोकोत्तर के पुण्य से जो बँधी हुई सुख की सामग्री। समझ में आया?

सुखों को प्राप्त होता है और प्रतिकूल चलनेवाला.... प्रभु! आप तो आरसी समान हो। आरसी को.... समझ में आया? नीचे आयेगा। **प्रतिकूल चलनेवाला पुरुष स्वभाव से ही दुःख पाता है;....** मिथ्यादृष्टि, सर्वज्ञस्वभाव पूर्णानन्द प्राप्ति स्वयंसिद्ध अकृत्रिम चैतन्यदेव की प्राप्ति का भान जिसे नहीं और विमुखदृष्टि है, वह सुख से दुःख को प्राप्त होता है। उस दुःख की प्राप्ति मिथ्यादृष्टि को दुःख मिलता है। आत्मा की पर्याय में आकुलता और उसका पुण्य ऐसा नहीं होता कि जैसा सम्यग्दृष्टि के पुण्य की सामग्री, ऐसा उसके पास साधन नहीं होता। **दुःख पाता है;....** अन्दर तो बहुत लिखा है।

सौधर्म इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुख प्राप्त करे। आत्मा की शान्ति तो पावे परन्तु सौधर्म इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि (पदवी प्राप्त करे)। .... समझ में आया? और मिथ्यादृष्टि नरक, तिर्यंच, निगोद जनिता अशातम् मिथ्यादृष्टि को तो नारकी और निगोद के दुःख का भोग है। हे भगवान! आप त्रिलोकनाथ की भक्ति करें, उसे आत्मा की शान्ति मिलती है और सौधर्म आदि इन्द्र और तीर्थंकर के पद की प्राप्ति होती है। और आपकी जो अवज्ञा करे, विरोध करे.... बड़ा विवाद उठा है, कौन जाने। सर्वज्ञपद का पूरा। सर्वज्ञपद जो पूरा धर्म का मूल, अरिहन्त पद जिसकी वाणी उपकारी, ऐसे अरिहन्त

कौन हैं ? णमो अरिहन्ताणं। उनके केवलज्ञान का विषय एक समय का। थोड़ा पढ़ाया था भाई पण्डितजी को। आहार के समय। यह विषय अनादि का। देखो ऐसा कहना चाहे तो अनादि-अनन्त है, ऐसा उत्तर देना पड़े, इसकी अपेक्षा संक्षिप्त कर दिया। और विषय पूर्ण कहना चाहे, इसलिए तीन काल-तीन लोक भगवान देखते हैं। बात पूरी हो गयी। अब करना क्या ?

सर्वज्ञ प्रभु.... समझ में आया ? ऐसा देखते हैं। तीन काल-तीन लोक एक समय में अपने स्वभाव के सामर्थ्य से, जिस प्रमाण होता है सामने.... भले कर्ता नहीं, होता है। अब करना क्या ? समझ में आया ? ऐसे सर्वज्ञ को स्वीकार करे तो अपने करने का क्या रहे ? समझ में आया ? एक व्यक्ति ने यह प्रश्न किया था। (संवत्) १९९२ के वर्ष में वहाँ हीराभाई के मकान में। यह केवलज्ञानी ने सब देखा हो तो फिर अपने हाथ में पुरुषार्थ नहीं रहता। यह सब होली ऐसी की ऐसी चली ही आती है। साधु हुआ स्थानकवासी का। पाँच वर्ष में बड़ा पण्डित हो गया। .... पश्चात् पढ़ा हुआ और फिर छोड़ दिया। उसे जैन की आस्था उड़ गयी। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध में कुछ ईश्वर का अधिकार अन्दर है। ईश्वर बिना यह नहीं होता। असाता का उदय यहाँ आवे और बैल का सींग आकर लगे, इन दोनों का मेल कौन करता है ? समझ में आया ? असाता का उदय आवे और यहाँ बैल का सींग (लगे)। बैल आकर यहाँ खड़ा हो। उसमें मारे सींग। अब उसे किसने कहा और उसे कैसे खबर पड़ी असाता को कि इसे लाऊँ ? बैल को कहाँ से खबर पड़ी कि असाता का उदय है, इसलिए जाऊँ ? आहाहा! अरे! अरे! सहज ऐसे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध लाखों, करोड़ों अनन्त एक समय में बन रहे हैं। उसमें कर्ता-फर्ता और ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। उसने यह प्रश्न किया कि केवली ने देखा हो, तत्प्रमाण हो तो पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

केवलज्ञानी मानते हो ? मैंने कहा। केवलज्ञान मानते हो ? नहीं, नहीं; यह नहीं। यह नहीं तो पहले केवलज्ञान है या नहीं, ऐसा निर्णय कर। ऐसे कहीं अध्धर से चले, केवलज्ञानी ने देखा, वह बदलेगा नहीं। केवलज्ञान है, ऐसा तू मानता है ? इस जगत में आत्मा सर्वज्ञस्वभावी प्रगट हो सकता है। सर्वज्ञ परमात्मा है। केवलज्ञान की सत्ता

वर्तमान मौजूद है। मानता है? नहीं तो न माने तो उसका निर्णय करें। परन्तु कुछ ठिकाना नहीं होता।

इसी प्रकार आत्मा की सर्वज्ञशक्ति से सर्वज्ञ पद प्राप्ति तीन काल-तीन लोक में अनन्त जीव को हुई है। सम्यग्दर्शन में देवों ने भी स्वीकार की है। केवलज्ञान अब हम अल्प काल में लेनेवाले हैं। हमारी श्रद्धा में केवलज्ञान श्रद्धा से प्रगट हुआ है। हम केवलज्ञानी नहीं थे स्वभाव से वह श्रद्धा के भान में हमें केवलज्ञान श्रद्धा से प्रगट हुआ है। इच्छा वर्तती है। इच्छा से केवलज्ञान वर्तता है, मुख्यनय के हेतु से (केवलज्ञान वर्तता है)। श्रीमद् ने कहा न पत्र में? निश्चयनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है। वर्तता है। सुन! समझ में आया? ज्ञान की भावना में भी यही वर्तता है। केवल.... केवल... केवल... पूर्ण। आहाहा! ऐसे भगवान स्तुति और भक्ति करे और उसे क्षणमात्र में आत्मा की शान्ति और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र न हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। समझ में आया? यह वास्तव में भगवान की भक्ति करनेवाला है।

इस तरह आप सूर्य से बहुत अधिकतर हैं। यह तो आ गया है। आपकी जो भक्ति अनुकूलता वह... भक्ति का अर्थ ही है—निश्चयभक्ति और व्यवहारभक्ति। निश्चयभक्ति सम्यग्दर्शन और व्यवहारभक्ति शुभविकल्प की, भगवान की। जो यह भक्ति करे, वह आपके भक्ति करनेवाले सुमुख अर्थात् सुमुख-आपकी अनुकूल, उसे सुख की प्राप्ति आत्मा की और बाहर की सब होती है। सब होती है। नरेन्द्र, चक्रवर्ती आदि हो, वह समकितदृष्टि हो सकता है। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, इन्द्र वह सम्यग्दर्शन पूर्व में पाये बिना ऐसा पुण्य कभी बँधता नहीं। और कहते हैं, आपके विरोधी, आपके विरोधी सर्वज्ञपद को नहीं स्वीकार करनेवाले, मिथ्यादृष्टि पूर्णानन्द की प्राप्त की प्राप्ति हो सकती है और (प्राप्त) हुए भगवान विराजते हैं, ऐसा नहीं माननेवाले महा असाता के नरक, निगोद के दुःख पाते हैं। क्योंकि वह मिथ्यादृष्टि है, वह अन्त में निगोद में गये बिना रहेगा नहीं और यह सम्यग्दृष्टि है तो केवलज्ञान प्राप्त किये बिना रहेगा नहीं। **दर्पण की तरह हमेशा उज्ज्वल कान्तियुक्त....** दर्पण की तरह हमेशा उज्ज्वल कान्तियुक्त आप तो रहते हो। **एक सदृश शोभायमान रहते हैं।** आपमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

भावार्थ - जिस प्रकार दर्पण के सामने मुँह करनेवाला.... (दृष्टान्त) देखो! दर्पण के सामने देखनेवाला। ऐसे देखे, उसे मुख दिखता है। दर्पण में सामने देखनेवाला मुख देखता है। अपनी मुख्यता देखता है। समझ में आया? **दर्पण में अपना चेहरा देखकर स्वयं सुखी होता है और पीठ देकर खड़ा हुआ पुरुष....** और दर्पण के-दर्पण से पीठ देकर खड़ा हुआ, वांसो देकर खड़ा हुआ, भगवान! **अपना चेहरा न देख सकने से स्वयं दुःखी होता है;....** उसके अपने शरीर का स्वरूप क्या है, वह देख नहीं सकता। इसलिए अपनी, शरीर की बात है न अभी?

उनके सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। उसे सुख-दुःख में दर्पण कारण नहीं है। दर्पण तो पड़ा है, ऐसा का ऐसा। जिसने सामने देखा, उसे चेहरा वर्ता और आड़ा पड़ा, उसे चेहरा नहीं दिखाई दिया। **दर्पण तो उन दोनों के लिए हमेशा एकरूप ही हैं,....** दोनों के लिये दर्पण तो एक दशा को धारण करता है। **पर वे दो मनुष्य अपनी अनुकूल और प्रतिकूल क्रिया से अपने आप सुखी और दुःखी होते हैं।** यह दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार जो मनुष्य आपके विषय में सुमुख होता है.... ओहो! सर्वज्ञ परमात्मा का दास हो, अनुकूल हो, प्रशंसनीय हो, सत्कार करनेवाला हो, ऐसे सर्वज्ञपद को स्वीकार मान्यतावाला हो, वह सर्वज्ञ के सामने उसने देखा। समझ में आया? सर्वज्ञ जैसे हैं, वैसा देखा। **अर्थात् आपको पूज्य दृष्टि से देखता है,....** अहो! देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा पूर्णानन्द की जिन्हें प्राप्ति (हुई है), वीतराग विज्ञानघन खिल निकला है। ऐसी जिसे अन्तर में पूज्यदृष्टि परमात्मा के प्रति हुई .**आपकी भक्ति करता है, वह शुभकर्मों का बन्ध होने अथवा अशुभकर्मों की निर्जरा होने से....** यह व्यवहार से बात की। अन्दर शुद्धि तो होती है, परन्तु उसे पुण्य के परिणाम ऐसे होते हैं कि जिससे शुभकर्म का बन्ध होता है और अशुभकर्म का निर्जरारूप से नाश होता है। **अशुभकर्मों की निर्जरा होने से स्वयं सुखी होता है....** अन्तर में शुद्धि की प्राप्ति, बाहर में ऐसे सुख के साधन सहज मिल जाते हैं।

और जो आपके विषय में विमुख रहता है.... मिथ्यादृष्टि है। **अर्थात् आपको पूज्य नहीं समझता और न आपकी भक्ति ही करता है, वह अशुभकर्मों का बन्ध होने**

से दुःख पाता है। उनके सुख-दुःख में आप कारण नहीं हैं;.... आप कारण नहीं तो.... यह तो उसके भाव की दशा कारण है। कहीं दर्पण कारण नहीं। **आप तो हमेशा दोनों के लिए राग-द्वेष रहित और चैतन्य-चमत्कारमय एकरूप ही हैं।** भगवान! आप तो चैतन्य चमत्कार (ही रहते हो)। भगवान को लक्ष्य कर बात करते हैं। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव की सन्मुखता में उसे देखनेवाला, उस स्वभाव के सन्मुख देखनेवाला—चैतन्य दर्पण के सन्मुख देखनेवाला सहज शान्ति और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के मोक्षमार्ग को प्राप्त करता है। और चैतन्य ध्रुव सामान्य से विमुख रहनेवाले अर्थात् कि, पुण्य को भला माननेवाले, निमित्तों को भला माननेवाले; स्वभाव को भला माननेवाले नहीं। सहज दुःख के पात्र और दुःखी होकर भटकेंगे। सेठी!

चैतन्यप्रभु पूर्ण परमात्मशक्ति, सामान्य स्वभाव के सन्मुख जिसने देखा, उसकी जिसे अभिमुखता हुई, वह तो उसका विनय करनेवाला हुआ। अर्थात् उसे तो सहज शान्ति और बाह्य साधनों की सुख सामग्री मिलेगी। ऐसे स्वभाव का जिसने अनादर किया, अविनय किया, पीठ जिसने दी, आहाहा! वह शुभ और अशुभ परिणाम के सामने देखकर खड़ा रहा और चैतन्य भगवान प्रकाश का पुंज, उसमें जिसने देखा नहीं। समझ में आया? उसे चैतन्यचमत्कार का लाभ अन्दर से नहीं होता। परन्तु उसे चार गति में भटकने का नुकसान होता है। कहो, समझ में आया?

क्या कहा इसमें? चैतन्य महासत्ता प्रभु, वह चैतन्य महासत्ता प्रभु, उसके सामने जिसने देखा, वह निहाल हो गया, कहते हैं। और चैतन्य महासत्ता प्रभु में जो विमुख रहा और विकार की वृत्ति का आदर किया, वह स्वयं के ही कारण दुःखी हुआ। वह चैतन्यसूर्य महाधाम प्रभु तो ऐसा का ऐसा है। समझ में आया? जैसे दर्पण ऐसा का ऐसा है, उसी प्रकार चैतन्य भगवान धाम सूर्य ऐसा का ऐसा है। सात हुई।

काव्य ८

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिः,
मेरोश्च, तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि॥

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ थल की चौड़ाई।
वहीं-वहीं तक जहाँ-जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई॥
किन्तु नाथ! तेरी अगाधता, और तुङ्गता, विस्तरता।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रही हे जगतपिता!॥

अन्वयार्थ — (अब्धेः) समुद्र की (अगाधता) गहराई (तत्र अस्ति) वहाँ है, (यतः सः पयोधिः) जहाँ वह समुद्र है। (मेरोः) सुमेरु पर्वत की (तुङ्गा प्रकृतिः) उन्नत प्रकृति अर्थात् ऊँचाई (तत्र) वहाँ है, (यत्र सः) जहाँ वह सुमेरुपर्वत है (च) और (द्यावापृथिव्योः) आकाश-पृथ्वी की (पृथुता) विशालता भी (तदैव) उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं, वहीं उनकी विशालता है परन्तु (त्वदीया अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः, पृथुता च) हे प्रभु! आपकी गहराई, उन्नत प्रकृति और हृदय की विशालता ने (भुवनान्तराणि) तीनों लोकों के मध्यभाग को (व्याप) व्याप्त कर लिया है।

भावार्थ — अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं — समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहनेवाले धैर्य की अधिकता। 'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्व्यर्थक है - पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना। इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं - जमीन, आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव और मन में सबको अपनाने के भाव, सब के प्रति प्रेममयी भावना।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है, मेरुपर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथ्वी का विस्तार भी उन्हीं के पास है; परन्तु आपकी अगाधता अर्थात् धैर्यवृत्ति, ऊँचाई अर्थात् अदैन्यवृत्ति और पृथुता अर्थात् उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है; इसलिए जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के

समान है, उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है और विशालता आकाश-पृथ्वी के सदृश है; वे भूल करते हैं।

काव्य - ८ पर प्रवचन

आठवीं।

अगाधताब्धेः स यतः पयोधिः,
मेरोश्च, तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव,
व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि॥

गहराई निधि की, ऊँचाई गिरि की, नभ थल की चौड़ाई।
वहीं-वहीं तक जहाँ-जहाँ तक, निधि आदिक दें दिखलाई॥
किन्तु नाथ! तेरी अगाधता, और तुङ्गता, विस्तरता।
तीन भुवन के बाहिर भी है, व्याप रही हे जगतपिता!॥

लो! यह स्तुति अमृत के भणकार बजती हुई अन्दर से उठती है। भो देव! हे सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ देवाधिदेव! **आपकी समुद्र की गहराई तत्र अर्थात् वहाँ है,....** क्या कहते हैं? यह समुद्र की गहराई एक हजार योजन, समुद्र की गहराई एक हजार योजन दरियातट में रही है। **जहाँ वह समुद्र है।** जहाँ समुद्र है, वहाँ उसकी गहराई हजार योजन है। **सुमेरुपर्वत की उन्नत प्रकृति....** मेरुपर्वत की उन्नत अर्थात् ऊँचाई का स्वभाव **ऊँचाई वहाँ है, जहाँ वह सुमेरुपर्वत है....** जहाँ मेरुपर्वत है, वहाँ उसकी ऊँचाई है। लाख योजन का है न मेरु? लाख योजन और चालीस योजन। वह चूलिका है न ऊपर। एक लाख योजन और चालीस (योजन) या ऐसा कुछ है। ऐसी चूलिका वहाँ-वहाँ उसकी ऊँचाई है। वह उन्नत प्रकृति वहाँ उसकी समाहित है।

और आकाश-पृथ्वी की विशालता भी.... उस पृथ्वी की विशालता। आकाश की। अभी यहाँ लोक तक का आकाश लेना। **आकाश-पृथ्वी की विशालता भी उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं,....** कहो, समझ में आया? क्रमशः ३४३

राजू पृथ्वी है। चौदह ब्रह्माण्ड। प्रभु आप कहाँ! वह उसकी तो वहाँ ही व्यापकता और उसकी स्थिति वहाँ है। समझ में आया? **विशालता भी वहाँ है; उसी प्रकार है अर्थात् जहाँ आकाश और पृथ्वी हैं, वहीं उनकी विशालता है परन्तु 'त्वदीया अगाधता, तुङ्गा प्रकृतिः, पृथुता च'** हे भगवान! **हे प्रभु! आपकी गहराई,....** तीन काल तीन लोक में व्याप रही है गहरी। आपके ज्ञान की गहराई गम्भीरता आपके पास उतने में रही नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? समुद्र की गहराई वहाँ, मेरु की वहाँ, पृथ्वी की पृथ्वी में। आपकी गम्भीरता और आपकी प्रकृति की गहराई—ऊँधाई और उन्नत प्रकृति—स्वभाव प्रकृति अर्थात्। हे भगवान! आपका स्वभाव। **और हृदय की विशालता....** आपके ज्ञान की हृदय की विशालता **तीनों लोकों के मध्यभाग को व्याप्त कर लिया है।** सब तीन काल को, तीन लोक को जानकर ऐसी तेरी विशालता रही है। समझ में आया? यह सब तुच्छता है, प्रभु! तेरे ज्ञान और तेरे आनन्द की कोई महत्ता की प्रकृति कोई माप जाये, ऐसा नहीं है।

भावार्थ - अगाधता शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र वगैरह में पानी की गहराई और मनुष्य हृदय में रहनेवाले धैर्य की अधिकता। अगाधता के दो अर्थ हुए। समुद्र इत्यादि की पानी की गहराई और मनुष्य के हृदय में धैर्य की अधिकता। धीरज.... धीरज.... धीरज.... धीरज.... **'तुङ्गा प्रकृति' शब्द भी द्व्यर्थक है -'तुङ्गा'** अर्थात् ऊँचाई। **पहाड़ वगैरह की ऊँचाई और मन में दीनता का न होना।** मन में दीनता का न होना, वह हृदय की उन्नत प्रकृति है और पहाड़ की ऊँचाई पहाड़ में है।

इसी तरह पृथुता, विशालता के भी दो अर्थ हैं - जमीन, आकाश वगैरह के प्रदेशों का फैलाव.... वह जमीन और उसका फैलाव उस प्रदेश का है पृथुता। **मन में सबको अपनाने के भाव,....** यह मन में सब लोग, तीन काल तीन लोक का ज्ञान, यह अपने में फैलाव का भाव अथवा **सब के प्रति प्रेममयी भावना।** प्रेम का अर्थ कि सब वस्तु है। सब वस्तु है। ऐसा ज्ञान करना, वह सब वस्तु का प्रेम कहने में आता है। नहीं है, ऐसा कहना उसका द्वेष किया जैसा है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, छह द्रव्य, नव तत्त्व नहीं, वह पदार्थ का द्वेष है। है, ऐसा ज्ञान अन्तर में बैठना, वह पदार्थ का प्रेम है। समझ में आया?

कहते हैं कि हे नाथ! आपको **सब के प्रति प्रेममयी भावना है।** पूरे तीन काल तीन लोक के प्रति का ज्ञान आपको व्याप्त हो गया है। कोई नहीं एक अंश भी ऐसा आपको रहा नहीं। आप ही प्रेममय परमात्मा हो। आप ही प्रेममयी प्रेम की मूर्ति आप ही हो। दुनिया कहे कि इसने... इसने.... इसने.... प्रेम किया, अमुक ने प्रेम किया, वह प्रेम नहीं है। वह खण्ड-खण्ड प्रेम है और रागवाला (है)। यह तीन काल तीन लोक को जाननेवाले, कोई बात आपके निषेध में रही नहीं। यह नहीं, ऐसा रहा नहीं। वह सब है.... है.... है। ऐसा आपने प्रेममय जीवन को बिताया है। प्रभु! आप ही प्रेममय हो।

भगवन्! समुद्र की गम्भीरता समुद्र के ही पास है,.... भावार्थ। **भगवन्! समुद्र की गम्भीरता....** भगवन कहकर कहा है। भावार्थ नहीं किया। **मेरुपर्वत की ऊँचाई मेरु के ही पास है और आकाश-पृथ्वी का विस्तार भी उन्हीं के पास है; परन्तु आपकी अगाधता अर्थात् धैर्यवृत्ति, ऊँचाई अर्थात् अदैन्यवृत्ति और पृथुता अर्थात् उदारवृत्ति सारे संसार में फैली हुई है;....** इन्द्र और नरेन्द्र भी आपकी प्रशंसा और उदारवृत्ति की प्रशंसा करते हैं। समझ में आया?

इसलिए जो कहा करते हैं कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है,.... कोई कहता है कि आपकी गम्भीरता समुद्र के समान है। प्रभु! वह भूल करता है। आता है न उसमें, नहीं आता? सागरवर गम्भीरा। लोगस्स में आता है। आता है? महाराज! प्रभु! वह भूल करता है। कहाँ समुद्र की गम्भीरता, अगाधता और कहाँ आपकी अगाधता! वह समुद्र के साथ आपकी अगाधता को मिलावे, प्रभु! वह भूल करता है। समझ में आया?

उन्नत प्रकृति मेरु की तरह है.... आपकी उन्नत अर्थात् ऊँचाई मेरु तरह—मेरु जितनी है। वह सब भूल खाते हैं। उसकी उन्नतता और आपकी उन्नतता के साथ कुछ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। **और विशालता आकाश-पृथ्वी के सदृश है; वे भूल करते हैं।** आपकी विशालता, आपकी अगाधता और आपकी उन्नतता किसी के साथ मिले, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य महाप्रभु की अगाधता, ध्रुव धातु भगवान आत्मा अगाध... अगाध.... अगाध.... केवलज्ञान, केवलदर्शन, परम आनन्द,

अनन्त वीर्य प्रगट होने पर भी कुछ बाकी-कम हुआ है.... है या मतिज्ञान के समय ज्ञान पर्याय में बहुत कम था, इसलिए उसमें-शक्ति में अधिक था, और जब केवलज्ञान प्रगट हुआ तब अन्दर में शक्ति (घट गयी - ऐसा नहीं)। प्रभु! तेरे किसी गुण की अगाधता है। समझ में आया? इतनी-इतनी पर्याय प्रगट हो। आयी कहाँ से? कि उसमें से। कम हुआ? आहाहा! समझ में आया? यह माप नहीं आता। प्रभु! तेरी तो कोई अगाधता है। अनन्त वीर्य प्रगट हुआ। एक अनन्तवें भाग में वीर्य निगोद के जीव को रहा अनन्तवें भाग एक अक्षर के अनन्तवें भाग का ज्ञान रहा। तो भी वस्तु तो ध्रुव चैतन्यप्रभु, महाप्रभु ऐसा का ऐसा है। नरभेरामभाई! यह दूसरे प्रकार की भक्ति चलती है। आहाहा! पैसे का नहीं उसे कुछ। समझ में आया इसमें?

क्या कहते हैं? आहाहा! प्रभु! तेरी तो कोई अगाधता! कहीं साधारण तर्क के माप में नहीं आते। अनन्त-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदवाला केवलज्ञान, तथापि तेरा द्रव्यस्वभाव चैतन्य धातु सूर्य तो ऐसा का ऐसा है। उसमें कहीं कुछ कमी निकली (नहीं)। आहाहा! समझ में आया? कहाँ दुःख की दशा निगोद की पर्याय में और कहाँ आनन्द अतीत की आनन्द का अनन्त-अनन्त विभाग अनन्त अपार अविभागवाला अनन्त आनन्द, तो आनन्द की जो गहराई जो आत्मा द्रव्य में है (वह) अगाध है। ऐसे बाहर से माने, ऐसा नहीं। उसकी महिमा में यह बात आनी चाहिए। ओहोहो! यह वह कहीं दिव्यशक्ति! जिसकी अगाध, जिसकी गम्भीरता। गम्भीर.... गम्भीर.... गम्भीर गहराई। और जिसकी उन्नत प्रकृति। स्वभाव ऐसा का ऐसा गहरा अनादि का है, ऐसी चैतन्यधातु महाप्रभु स्थित है। समझ में आया? महाप्रभु क्यों कहा? कि पर्याय में प्रभु हो, वह उस महाप्रभु में से आता है। समझते हैं या नहीं जरा! वे महाप्रभु दूसरे भी कहते हैं न बहुत? कि यह महाप्रभु। नहीं कहते दूसरे में?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ अमुक। अरे! वह यह महाप्रभु है। दूसरा कोई महाप्रभु नहीं। वर्तती पर्याय जिसे महाप्रभु है। पर्याय में। और भगवान आत्मा महाप्रभु है वस्तु में। स्वभाव.... स्वभाव.... स्वभाव.... यह क्या कहते हैं? किस डण्डे से माप करना?

किस हाथ से और किस गज से माप करना? ऐसा चैतन्य महा भगवान। एक समय की प्रगट पर्याय, इसके अतिरिक्त पूरी वस्तु! मति के अनन्तवें भाग की ज्ञान की पर्याय उघड़ी हो या पूर्ण उघड़ी हो। दर्शन के अनन्तवें भाग की पर्याय उघड़ी हो या पूर्ण उघड़ी हो। दु:ख की पर्याय हो पूर्ण और पूर्ण आनन्द उघड़ा हो। एक वीर्य बहुत थोड़ा हो, तो जो ज्ञान और उपशम का थोड़ा उसकी रचना में रुकता था, वहाँ अनन्तवीर्य जो अनन्त केवलज्ञान दर्शन को रचने में रुकता है। ऐसी पर्याय प्रगट होने पर उसके ध्रुवस्वभाव की गम्भीरता का पार नहीं होता। कहीं कम बैठे, नहीं बैठे। अब तो पूरी हो गयी न। अब पूरी हो गयी न, था उतना? सुन न! था उतना अर्थात् क्या? वहाँ तो अगाध पड़ा है। समझ में आया? आहाहा! उसने चैतन्य महाशक्ति क्या है और चैतन्य का स्वभाव देवाधिदेव है वह। देवाधिदेव आत्मा है। ऐसे द्रव्यस्वभाव की महत्ता और दृष्टि में कहते हैं कि अरे! प्रभु! उसमें कुछ माप हमारे ज्ञान की पर्याय में नहीं आता, ऐसा तेरा अगाधपना है। समझ में आया? ऐसा चैतन्य महासामान्य प्रभु, यह उसकी श्रद्धा-ज्ञान की भक्ति करना, यह उसे कहते हैं कि तेरे अगाध का पार नहीं। हम तो वहाँ निर्विकल्प होकर स्थिर होते हैं। विकल्प किये बिना, निर्विकल्प से स्थिर होते हैं, वह तेरी अगाधता का ज्ञान आवे। परन्तु बाकी पार पड़े, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

काव्य ९

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः,
विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम्॥

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मत में गाया।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया॥
त्यों आशा करके अदृष्ट की, तुम सुदृष्ट फल को खोते।
यों तब चरित दिखें उलटे से, किन्तु घटित सब ही होते॥

अन्वयार्थ — (अनवस्था) भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता (तव) आपका (परमार्थतत्वम्) वास्तविक सिद्धान्त है (च) और (त्वया) आपके द्वारा (पुनरागमः न गीतः) मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है तथा (त्वम्) आप (दृष्टम्) प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी सुख (विहाय) छोड़कर (अदृष्टम्) परलोक सम्बन्धी सुख को (ऐषीः) चाहते हैं, इस तरह (त्वम्) आप (विरुद्धवृत्तः अपि) विपरीत प्रवृत्तियुक्त होने पर भी (समंजसः) उचितता से युक्त हैं।

भावार्थ — जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, सभी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है, तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा। किन्तु आप उनके पुनरागमन को / संसार में वापिस आने को स्वीकार नहीं करते, यह विरुद्ध बात है। जो मनुष्य प्रत्यक्ष -सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर, अप्रत्यक्ष परभव में प्राप्त होनेवाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा से उद्योग करते हैं, यह भी विरुद्ध बात है। पर जब इन दोनों बातों का तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं, तब वे दोनों बातें ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी यह प्रवृत्ति उचित ही ठहरती है।

यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है, सिद्धों में भी होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप हैं। संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है; इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है।

इसी तरह आपने वर्तमान में क्षणभङ्गुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। इसलिए प्रत्यक्ष के अल्पसुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो तो उसे कौन प्राप्त नहीं करना चाहेगा ? — इस श्लोक में विरोधाभास अलङ्कार है।

काव्य - ९ पर प्रवचन

नवमी।

तवानवस्था परमार्थतत्त्वम्,
त्वया न गीतः पुनरागमश्च।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषीः,
विरुद्धवृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम्॥

अनवस्था को परम तत्त्व, तुमने अपने मत में गाया।
किन्तु बड़ा अचरज यह भगवन्, पुनरागमन न बतलाया॥
त्यों आशा करके अदृष्ट की, तुम सुदृष्ट फल को खोते।
यों तब चरित दिखें उलटे से, किन्तु घटित सब ही होते॥

धुन लगी है, उन्हें धुन। यह आत्मा जागृत होकर खड़ा हो और उस लड़के को सर्प काटा था, वह एकदम जागकर खड़ा हो गया। समझ में आया? स्तुति करते हैं न! सहज पुण्य का योग ऐसा आया कि लड़के को वह सर्प काटा और लाकर डाल दिया मुर्दा भगवान के सामने। मन्दिर में वह (धनंजय) भक्ति करता था, उसका पिता। सामने देखा नहीं, सामने। देखा भगवान के सामने। पर के सामने देखा नहीं। उसमें पुण्य का पलटा ऐसा एकदम हुआ (कि) आलस्य मरोड़कर खड़ा हुआ। ओहोहो! यह प्रभा! यह भगवान की महिमा! अरे! मुर्दा जागृत होता है, कहते हैं यहाँ तो। समझ में आया? उसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु के सन्मुख देखे, वह जीवन में मर गया, वह जागृत होता है। सेठी! यह भगवान की भक्ति चलती है। इसने कभी सच्ची भक्ति भी नहीं की। भक्ति का क्या रूप और स्वरूप है, इसने कभी अन्तर से सुना नहीं।

हे नाथ! **अन्वयार्थ - भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता....** आपने तो परिणमनशील द्रव्यों का स्वभाव बतलाया है। भ्रमण अर्थात् परिणमन उसका लेना है। भ्रमण अर्थात् परिणमने का स्वभाव, बदलने का स्वभाव, एकरूप नहीं रहने का स्वभाव। **आपका वास्तविक सिद्धान्त है....** वास्तविक तो आपका यह सिद्धान्त है। **और आपके द्वारा**

मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया.... यह तो दो पलट खा गया। दोनों विरुद्ध हो गया। आहाहा! एक ओर कहते हो कि पलटा खाता है। और सिद्ध हो और वापस जन्मे नहीं। वह पलटा नहीं खाता। आपकी कोई बलिहारी है, प्रभु! समझ में आया?

मुमुक्षु : वापस हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वापस हुआ नहीं यह। यहाँ तो कहे, हुआ वह हुआ। प्रवचनसार में आता है न, भाई! नहीं? उत्पाद ऐसा है कि व्यय बिना का। गाथा है न? हे नाथ! आत्मा की सिद्धपर्याय आपने प्रगट की, तो वह उत्पाद हुआ, वह हुआ। उस उत्पाद का व्यय अब कभी होगा नहीं। उस उत्पाद के व्यय का अर्थ कि संसार का अब उत्पाद हो, ऐसा आपमें बनता नहीं। यह दशा आपने ही कही है और आपमें ही होती है। अन्यत्र हो नहीं सकती। समझ में आया?

और हे नाथ! आपने व्यय किया, वह अब उत्पाद कभी होगा नहीं। आपने जिस संसार का व्यय अर्थात् नाश किया, उसका कभी अब उत्पाद होगा नहीं। संसार के नाश का उत्पाद अब नहीं और मुक्ति का उत्पाद, उसका कभी व्यय नहीं। ऐसी चीज़ की प्राप्ति परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर आपने की है। यहाँ भी यह कहते हैं, प्रभु! आपने भ्रमणशीलता, परिवर्तनशीलता तो कहा तत्त्व, परिणमता है वह।

आपके द्वारा.... 'पुनरागमः न गीतः' पुनः आगमन न गीतः **मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं गया है....** समझे? आगम में कभी ऐसा नहीं कहा कि भाई! वे सिद्ध वापस आयेंगे। परिवर्तनशील है, इसलिए आगम में ऐसा नहीं कहा, फिर से नीचे आयेंगे। **'पुनरागमः न गीतः'** आगम में नहीं गाया अथवा **'पुनरागमः न गीतः' मोक्ष से वापिस आने का उपदेश दिया नहीं....** समझ में आया? एक बोल यह हुआ।

दूसरा बोल। **आप प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी सुख छोड़कर....** अरे! दिखता है, उसे छोड़ा और नहीं दिखता है, उसे लिया। हाथ में आया, उसे छोड़ा और हाथ में नहीं, उसे ग्रहण करने लगा। क्या कहा, समझ में आया? **आप प्रत्यक्ष इस लोक सम्बन्धी (इन्द्रिय के) सुख छोड़कर परलोक सम्बन्धी सुख को चाहते हैं,....** परमात्मदशा की

पूर्णानन्द की प्राप्ति जो शक्ति में है, प्रगट में नहीं, उसकी आपने भावना की और विद्यमान सुख इन्द्रिय के प्राप्त हुए, उन्हें आपने छोड़ दिया।

इस तरह आप विपरीत प्रवृत्तियुक्त हो.... आप तो विपरीत प्रवृत्तियुक्त हो। तथापि वह **उचितता से युक्त हैं। 'समंजस'** यह बात ही समंजस और सच्ची है। विषय इन्द्रिय के लक्ष्य को छोड़कर, अतीन्द्रिय भगवान आत्मा के आनन्द की प्राप्ति आपने की। ऐसे देखो तो छोड़ा है मिला उसे। नहीं मिला, उसकी भावना करते हो। प्रभु! सामंजस्य बराबर है। आपने इन्द्रिय के विषयों का लक्ष्य और आश्रय छोड़ा। अतीन्द्रिय भगवान आत्मा के आनन्द में प्रविष्ट हुए। अनन्त काल में नहीं प्राप्ति हुई, ऐसी अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति की।

भावार्थ - जब आपका सिद्धान्त है कि सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, सभी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है,.... प्रत्येक पदार्थ में नयी-नयी पर्याय उत्पन्न होती है, पुरानी व्यय (होती है) और ध्रुवपना रहता है। **तब सिद्धों में भी परिवर्तन अवश्य होगा।** तो सिद्ध में भी परमात्मपद में भी परिवर्तन (होता है)। क्योंकि परिवर्तनशील तो स्वभाव आपने कहा है। **किन्तु आप उनके पुनरागमन को / संसार में वापिस आने को स्वीकार नहीं करते,....** परन्तु वहाँ से वापस पड़े, इसका स्वीकार नहीं है। **यह विरुद्ध बात है।** तथापि उसमें सामंजस्यता है। ऐसा ही होता है, प्रभु। पूर्ण प्राप्त हो और उसे फिर से अवतार? यह परमात्मा की भक्ति के गुणग्राम का स्तवन इस प्रकार से करते हैं।

जो मनुष्य प्रत्यक्ष-सामने रखी हुई वस्तु को छोड़कर, अप्रत्यक्ष परभव में प्राप्त होनेवाली वस्तु के पीछे पड़ता है, लोक में वह अच्छा नहीं कहलाता.... प्राप्त को छोड़े और नहीं प्राप्त को प्राप्त करे, वह अच्छा नहीं कहलाता। समझ में आया? **परन्तु आप वर्तमान के सुखों को छोड़कर भविष्य के सुख प्राप्त करने की इच्छा से....** भावना से **उद्योग करते हैं,....** पूर्णानन्द की प्राप्ति का प्रयत्न आपको है। **यह भी विरुद्ध बात है।** यह तो विरुद्ध है। **पर जब इन दोनों बातों का तत्त्वदृष्टि से विचार करते हैं, तब वे दोनों बातें ठीक मालूम होने लगती हैं, जिससे आपकी यह प्रवृत्ति उचित ही ठहरती है।**

यद्यपि पर्यायदृष्टि से सब पदार्थों में परिवर्तन होता है,.... पर्यायदृष्टि से पर्याय

अर्थात् अवस्था परिणमनशील वर्तमान स्वभाव, उससे सब पदार्थ का परिवर्तन है। परिवर्तन है। यह सिद्ध ने परिवर्तन संसार का छोड़ा, परिवर्तन किया। **सिद्धों में भी होता है, तथापि द्रव्यदृष्टि से सब पदार्थ अपरिवर्तनरूप हैं।** वस्तु तो अपरिवर्तनरूप है। **संसार में आने का कारण कर्मबन्ध है और वह कर्मबन्ध सिद्ध अवस्था में जड़मूल से नष्ट हो जाता है; इसलिए सिद्ध जीव फिर कभी लौटकर संसार में वापिस नहीं आते, यह आपका सिद्धान्त उचित ही है।** आप विरुद्ध लगते हो परन्तु आपका सिद्धान्त ही उचित है। दूसरों के नियम—कहे हुए सिद्धान्त, वे सब झूठे हैं।

इसी तरह आपने वर्तमान में क्षणभङ्गुर इन्द्रियजनित सुखों से मोह छोड़ कर सच्चे आत्मसुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वह सच्चा सुख तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि यह प्राणी इन्द्रियजनित सुख में लगा रहता है। वह इन्द्रियजनित सुख को भला माने, वह अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का शत्रु है। समझ में आया? इन्द्रिय के सुख जहर हैं, राग है। ऐसा कहकर भगवान की स्तुति करते हैं। आपने अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त किया और इन्द्रिय सुख को छोड़ दिया। हे प्रभु! आप सामंजस काम किया। भला काम किया। यह हमारे प्रशंसनीय है। मुझे भी अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष, इस इन्द्रिय के सुख के कारणरूप भाव का, भी मुझे अन्दर आदर नहीं है। समझ में आया? इन्द्रिय सुख के कारणरूप शुभभाव का भी सत्कार नहीं है। चिदानन्द भगवान अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु के सत्कार में मेरी शान्ति और अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति, इन्द्रियसुख का हेयपना है।

इसलिए प्रत्यक्ष के अल्पसुख को छोड़कर वीतरागता प्राप्त करने से यदि परभव में सच्चा सुख प्राप्त होता हो तो उसे कौन प्राप्त नहीं करना चाहेगा? ऐसी वीतरागता के आनन्द के सुख को कौन प्राप्त नहीं करे? **इस श्लोक में विरोधाभास अलंकार है।** टीकाकार में से जरा नित्य और अनियत्य सब लिया है, भाई! है न? सर्वथा नित्य है या सर्वथा एक ही है या सर्वथा अनेक ही है, यह आपने स्वीकार नहीं किया, प्रभु! समझ में आया? यह बोल अपने आ गये न? यह लिखा है, देखो! सर्वथा नित्य एकत्वं इत्यादि एकरूप अवस्था तत् अभावो अनवस्था नित्यं आत्म तत्त्वं। अकेला यह ही है, ऐसा आपने स्वीकार नहीं किया। नित्य भी है, अनित्य भी है, एक भी है,

अनेक भी है, ध्रुव भी है, परिणमता भी है, बदलता भी है, एकरूप भी रहता है। समझ में आया ? ऐसे पदार्थ का, वस्तु का स्वभाव आपने प्रकाशित किया और प्राप्त किया, यह आपने समंजस काम किया है। ऐसा कोई दुनिया में दूसरा देव नहीं कर सकता और दूसरे देव ने यह देखा और जाना और देखा नहीं।

आत्मा में उतारें तो आत्मा नित्यानन्द प्रभु अपने आनन्द के सुख की दृष्टि से, इन्द्रिय के सुख का कारण राग को छोड़ देता है। प्रत्यक्ष भाव हो, उसे छोड़ देता है। और जो शक्ति में है, अप्रत्यक्ष है—ऐसे चैतन्य के आनन्द की दृष्टि करने से उस परमानन्द की प्राप्ति को चाहता है और राग के भाव का आदर नहीं करता। वह सम्यग्दृष्टि चैतन्य का भक्त है और प्रभु आपका वह भक्त है। आपका भक्त हो, उसे भव की भीड़ नहीं रहती। समझ में आया? भवभ्रमण की भीड़, भगवान तेरे भक्त को नहीं रहती। समझ में आया ? यह नियमसार में नहीं आता ? अरे ! तुझे भगवान की भक्ति नहीं। अरे ! भवसमुद्र के मध्य में पड़ा है। यह भवभ्रमण में आधार-शरणभूत भगवान, यह उनकी तुझे भक्ति नहीं तो भवसमुद्र के मध्य में गोते खाता है। मगरमच्छ के मुख में है। मध्य समुद्र में मगरमच्छ के मुख में पड़ा है। भगवान की भक्ति नहीं, वह भक्ति व्यवहार और निश्चय दोनों है, हों ! समझ में आया ? कहा न पहले ? कहा न, टोडरमलजी ने कहा न, व्यवहार समकित के पीछे, निश्चय समकित गमनरूप, परिणमनरूप है। इसी प्रकार व्यवहारभक्ति के पीछे निश्चयभक्ति गमन-परिणमनरूप है। उसे व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति साथ में होती है, उसे भक्ति कहा जाता है। अकेले व्यवहार को व्यवहार नहीं कहा जाता।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि प्रभु ! आपको यह सब शोभा देता है। दूसरे को यह बात शोभा नहीं देती। ऐसा कहकर नौ गाथा की। लो !

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)